योग्यता का समाजशास्त्रीकरण

अमन मदान

योग्यता (मेरिट) की धारणा हालिया सालों के कई विवादों के केन्द्र में रही है। हाल में अन्य पिछड़ी जातियों (ओबीसी) के लिए आरक्षण पर हुए बवाल ने फिर से योग्यता को नकारने के मुद्दे पर ध्यान आकर्षित किया है। एक सुपरिचित उक्ति है कि अगर समाज के गहन ढांचों और संघर्षों को समझना हो तो इसका सबसे बढ़िया तरीका है पागलपन का अध्ययन। योग्यता की अवधारणा को पहुंचाई जा रही क्षति और उसे सुरक्षित रखने की आवश्यकता को लेकर जिस प्रकार की गर्मागर्मी और भावनात्मक घोषणाएं की गईं वे हमें यह समझने की अंतर्दृष्टि देती हैं कि योग्यता की अवधारणा को मुख्यतः किस प्रकार देखा-समझा जा रहा है। एक ऐसे समाज में जहां समता व स्वतंत्रता के मूल्य पहले से मौजूद हों लेकिन फिर भी जो श्रेणियों में विभक्त हों वहां इस अवधारणा का क्या अर्थ है, उसे ही यह आलेख जांचता है।

मेरा मुख्य तर्क यह है कि योग्यता उन समाजों के विमर्श का हिस्सा है जो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त तो हों पर जिनकी सामाजिक गतिशीलता की सम्भावना में आस्था भी हो। यह उस विमर्श का हिस्सा है जो संघर्ष तथा आशा को वैधता दे, पर साथ ही अवसरों की असमान वास्तविकताओं में स्थित हो। जो उन विशेषाधिकारों और पुरस्कारों को वैध ठहराता हो जिनकी कामना ऊपर की ओर गतिशील तबका करता हो तथा जिन्हें वह पाना चाहता हो। यह उस सांस्कृतिक व्यवस्था का हिस्सा है जो व्यक्तिवादी हो और जहां प्रयास महत्त्वपूर्ण माने जाते हों। योग्यता, उपभोक्तावाद से, संतोष व पुरस्कार से भी जुड़ा है जो समसामयिक भारत में काम तथा रोजगार की बदलती तस्वीर का आवश्यक हिस्सा है। साथ ही योग्यता लोगों के बीच असमानता और संसाधनों के असमान वितरण की धारणा का तथा उसकी स्वीकृति का भी हिस्सा है। विरोधाभास यह है कि आधुनिक भारत के मिथक के रूप में योग्यता की धारणा जहां एक ओर समानता का उत्सव मनाती है वहीं उसका विरोध भी करती है।

क्षमताएं तथा उनका सामर्थ्य में बदलना

माना जाता है कि एक जैविक आधार (सबस्ट्रैटम) जो मानवीय क्षमताओं को परिभाषित करता है, वह विभिन्न सांस्कृतिक अनुभवों के कारण अलग-अलग लोगों में भिन्न-भिन्न तरह से सक्रिय तथा विकसित होता है। यह विचार मानवीय सामर्थ्य की आम परंपरागत धारणा के तीखे विरोध में है : कि कुछ लोगों में दैवी-अनुग्रह से कुछ विशेष गुण होते हैं जो आजीवन बने रहते हैं, जबकि शेष लोगों पर यह अनुग्रह नहीं होता और वे औसत स्तर से आगे बढ़ ही नहीं पाते। दूसरे शब्दों में सामर्थ्य की सामान्य समझ लोगों की सामर्थ्य में भेद करती है और यह मानकर चलती है कि सामर्थ्य की मौजूदा स्थिति स्थायी है और भविष्य में इसी प्रकार बनी रहेगी। सामर्थ्य में स्थिर और निरंतर बने रहने वाले इस अन्तर के कई कारण बताए जाते हैं। कभी इसे आई.क्यू. की अवधारणा से जोड़ा जाता है, पर आमतौर पर इस अन्तर का कारण 'प्रतिभाशाली' या 'औसत' छात्र-छात्रा की श्रेणियों में सोचने पर

लेखक परिचय :

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाज विज्ञान में पीएचडी, संप्रति : आईआईटी, कानपुर में समाज विज्ञान के सह-प्रोफेसर

सम्पर्क :

मानविकी और समाज विज्ञान विभाग, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (आईआईटी), कानपुर-208016 उत्तरप्रदेश
Email - amman@iitk.ac.in

उतार लिया जाता है। शिक्षा के समाजशास्त्र के साथ आधुनिक मनोविज्ञान की सीखने की प्रक्रिया में सांस्कृतिक तथा वातावरण संबंधी आयामों को रेखांकित करने की कोशिश रही है। यह तर्क किया गया है कि लोगों में विकास की अपार सम्भावना होती है और उन्हें तुरत-फुरत ऊंचे या नीचे स्तर की गैर-लचीली श्रेणियों में डालना उनकी संभावनाओं के प्रति हिंसा का कृत्य है। इसके बावजूद मानवीय सामर्थ्य को स्थिर और तयशुदा चारित्रिक गुण मान लेने की पुरानी परम्परा हमारे दिमाग पर हावी है। इस वृत्ति के प्रति आकर्षण का कारण यह है कि यह हमें लोगों के बीच समाज द्वारा रचे गए अन्तरों का एक अव्यक्त औचित्य उपलब्ध करवाता है।

कुछ दृष्टान्तों में यह सम्भव है कि जैविक चारित्रिक गुण बच्चे के जन्म के बाद जो कुछ भी घटे उसे दबा दें और स्वयं हावी हो जाएं। परन्तु अधिकांश दृष्टांतों में गुणों की तुलना में परिवेश ही अधिक निर्धारक सिद्ध होता है। असफलताओं का दोष अनुमानित आन्तरिक कमियों के मत्थे मढ़ने के बजाए योग्यता की कमी की तलाश इससे विपरीत दिशा में करना बेहतर होगा।

जो गुण हमें परीक्षाओं में सफल बनाते हैं अगर उन्हें योग्यता कहा जाता है तो जाहिर है कि उनका एक बड़ा और आवश्यक घटक सामाजिक जीवन से आता है। अतः उपयोगी यही होगा कि हम क्षमताओं और उनके सामर्थ्य में तब्दील होने में फर्क करें। समाजशास्त्रियों तथा नृशास्त्रियों ने परिवर्तन के इस सामाजिक आयाम पर काफी कुछ कहा है। मैं यहां शिक्षा के समाजशास्त्र से कुछ छांट कर इस पर ध्यान केंद्रित करूंगा कि समाजजनित असमानता को समझने में इससे किस प्रकार मदद मिल सकती है।

योग्यतातंत्र का आदर्श

असमानता और शिक्षा के प्रश्न ने पिछले दशक में काफी ध्यान आकर्षित किया है। यह आश्चर्यजनक भी नहीं है क्योंकि विगत दो शताब्दियों के तमाम सामाजिक व राजनीतिक आंदोलनों व दुनिया के चेहरे को बदलने वाली प्रक्रियाओं में समता का विचार केंद्रीय रहा है। इसी दौरान पेशों को बनाने में स्कूल एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी बना। अधिकांश समसामयिक राज्यों में योग्यता का आदर्श एक केंद्रीय मूल्य के रूप में उभरा। यह आदर्श समतामूलक सिद्धान्तों को मजबूती से अभिव्यक्त करता है और कई आरोपित या विरासत में पाए विशेषाधिकारों को भी खारिज करता है। अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी में सामन्तवाद के परास्त होने के साथ उभरे इस आदर्श ने गौरव व संपत्ति हासिल करने के पुराने तौर-तरीकों पर हमला किया। इसने जन्म के आधार पर उत्तराधिकार पाने की और कुछ खास पदों को वंशानुगतता के आधार पर या किसी निश्चित लिंग समूह के लिए सीमित करने की पुरानी प्रथा का वैकल्पिक ढांचा बनाया। खास ध्यान राज्य सेवा से संबंधित नियुक्तियों या पदों पर देते हुए, तर्क किया गया कि सामर्थ्य की जांच करना भाई-भतीजावाद या घूस के बदले एक अधिक युक्तियुक्त तथा वैध आधार होगा।

योग्यता का सिद्धान्त आधुनिक काल में स्वीकारे जाने के पूर्व कड़ा संघर्ष हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इंग्लैण्ड में प्रयास किया गया कि अफसरों की नियुक्ति एक खुली परीक्षा द्वारा की जाए। इस प्रयास को विफल कर दिया गया और उसे धकिया कर इण्डियन सिविल सर्विस (आईसीएस) पर लागू करवाया गया। यों आईसीएस में प्रथम खुली परीक्षा आयोजित हुई, पर इंग्लैण्ड में इसका प्रचलन काफी बाद में हुआ जब यूनिलीवर जैसे बड़े निगमों ने अपनी नियुक्तियों में इसका उपयोग करना प्रारंभ किया।

काम को करने में योग्यतातंत्र (मैरिटोक्रेसी) के मानदण्ड को बेहतर मानने के दावे मूलतः दो तर्कों पर आधारित थे -

1. कार्यकुशलता का तर्क : सबसे योग्य उम्मीदवारों को किन्हीं निर्धारित कार्यों को संपादित करने के लिए चुना जाता है, अर्थात् परीक्षा उपयुक्त उम्मीदवारों को चुनने की सटीक और भरोसेमंद विधि है और इससे व्यवस्था को पदों को उत्तराधिकार में पाने से होने वाली अनिश्चितता से कोई बाधा नहीं पहुंचती।

2. समानता का तर्क : योग्य उम्मीदवार जन्म के आधार पर उपलब्ध लोगों में से नहीं बल्कि पूरी जनसंख्या में से हो सकते हैं जिनमें से सर्वश्रेष्ठ को चुना जा सकता है।

इसके अलावा एक नैतिक तर्क भी इसमें निहित था। वह यह कि गौरव या सामाजिक प्रतिष्ठा (और साथ ही विशेषाधिकार) जन्म से नहीं बल्कि कर्म से तय किया जाना चाहिए। एक संगठनात्मक सिद्धान्त के रूप में यह गौर करने योग्य बदलाव था। यह आधुनिक युग के सबसे महत्त्वपूर्ण नैतिक विश्वासों में से कुछ को अभिव्यक्त करता थाः व्यक्ति अपने जन्म के उत्स से बंधा नहीं है और कड़ी मेहनत और स्पष्ट सोच से वह स्वयं अपना जीवन बना सकता है। योग्यता के आदर्श की स्वीकृति सामन्तवाद पर, उसकी गहन असमानताओं पर एक भारी विजय थी। इसके बावजूद इस आदर्श में तमाम समस्याएं भी रही हैं और अब दो शताब्दी के अनुभव से गुजरने के बाद इसे इसके सही संदर्भ में रखना अधिक आसान है।

योग्यता का समाजशास्त्रीकरण

योग्यता की अवधारणा के गठन की समस्या मूल्य, लियाकत और अच्छाई के अर्थ की समझ से करीब से जुड़ी हुई है। जुरगन हैबरमास (1984:3) ने इंगित किया है कि जिन मुद्दों की प्रकृति एक समय दार्शनिक या सात्विक मानी जाती थी उन्हें अब विशुद्ध रूप

से अवधारणात्मक क्षेत्र में रख कर देख पाना संभव नहीं है। अर्थ को सामाजिक संदर्भ किस तरह प्रभावित करते हैं, हमारी समझ में विकास के कारण अब ऐसी श्रेणियों को बनाने की हमारी समझ भी बदली है। दर्शन को अब वास्तविकता तथा उन ऐतिहासिक, सामाजिक संदर्भों को भी स्वीकारना पड़ता है जो अर्थ की रचना करते हैं। योग्यता क्या है तथा उसकी क्या सीमाएं हैं, यह समझने में ज्ञान का समाजशास्त्र तथा शिक्षा का समाजशास्त्र खासतौर से केंद्रीय बन गए हैं। इससे सीख लेनी हो तो शुरुआत हम संयुक्त राज्य अमेरिका में 1950 के दशक में समाज में शिक्षा का क्या स्थान था, के शास्त्रीय अध्ययन से कर सकते हैं। टैलकॉट पार्सन ने एक आलेख लिखा था (1959 में) जिसका शीर्षक था 'द स्कूल क्लास एज ए सोश्यल सिस्टम'। अगर हम इस पर प्रतिक्रिया करें तो हम समस्या के केंद्र की ओर बढ़ सकेंगे।

पार्सन समाज को भूमिकाओं तथा संस्थाओं की व्यवस्था के रूप में देखते थे। अमेरिकी समाज में शिक्षा को समाज के लिए दो मुख्य कार्य करने वाली व्यवस्था माना जाता था : (1) अव्वल तो शिक्षा युवा वर्ग को वयस्क भूमिकाओं के लिए कटिबद्ध बनाती है और उसके लिए आवश्यक क्षमताओं के लिए उनका सामाजीकरण करती है। (2) दूसरे यह लोगों को समाज में उपयुक्त पदों पर आवंटित करती है। जिस आधार पर यह तय होता था कि अन्ततः किसे, कौन-सा पद या स्थान मिलेगा, उसे पार्सन ने योग्यता बताया था, या जैसा उन्होंने कहा था 'उपलब्धि' के आधार पर आवंटन किया जाएगा। अगर पार्सन का विश्वास करें तो अमेरिकी समाज में सभी पद उपलब्धियों के आधार पर आवंटित किए जाते थे, जिनकी जांच अमेरिकी स्कूलों में सटीक और भरोसेमंद तरीके से होती थी।

यद्यपि पार्सन का प्रतिपादन इसलिए विलक्षण था क्योंकि वह सामाजिक ढांचों और उनके संबंध में शिक्षा क्या करती है की स्पष्ट चर्चा करता था, तथापि इस प्रकार की घोषणा की समस्याएं भी जाहिर हैं। पार्सन द्वारा वर्णित स्थिति उन समस्याओं से मेल नहीं खाती जिनके बारे में हम जानते हैं और जो तत्कालीन अमेरिका में मौजूद थीं और आज भी बरकरार हैं - उदाहरण के लिए तत्कालीन अमेरिकी समाज में तमाम तरीके थे जिनके चलते लोग अपनी प्रजाति, लिंग या वर्ग के आधार पर शैक्षणिक अवसरों का लाभ नहीं पाते थे। अपने पर्चे में पार्सन उनका हल्का-सा जिक्र जरूर करते हैं, पर यह पूछना नहीं शुरू करते कि उन्होंने भूमिकाओं के आवंटन में 'उपलब्धियों' की जो बात कही उस पर इसका क्या असर पड़ता है।

पार्सन ने समाज की जो तस्वीर सामने रखी जिसमें सही लोगों को सही काम मिलने की बात कही गई थी, का मजबूत खण्डन भी जल्दी ही उभरा यद्यपि मेल्विन एम. ट्यूमिन व अन्य ने इसका पुरजोर खण्डन किया और सामाजिक स्तरीकरण का वैकल्पिक वर्णन-सुझाया, परन्तु सैम्युअल बावल्स तथा हर्बर्ट गिन्टिस की रचना 'स्कूलिंग इन कैपटलिस्ट अमेरिका' (1976), सबसे विख्यात लेखन बना जो एक उदार लोकतंत्र में शिक्षा के माध्यम से न्याय के मिथक का खण्डन करता था। उनका मूल तर्क यह था कि पूंजीवादी समाजों में कई ढांचागत असमानताएं गहराई तक पैठी हैं जो भूमिका आवंटन में केवल उपलब्धियों को ही एकमात्र घटक बनने से रोकती हैं। भूमिकाओं का चरित्र तथा समाज में उनका तुलनात्मक अनुपात पूंजीवाद द्वारा परिभाषित होता है और पदक्रम में जैसे-जैसे ऊपर बढ़ते हैं आवश्यक रूप से कम से कमतर पद उपलब्ध हो पाते हैं। जिन स्कूलों का लक्ष्य श्रेणियों में बंटे समाजों की आर्थिक मांगों की आपूर्ति हो वे दरअसल कभी भी समता की ओर नहीं ले जा सकते। यद्यपि उपलब्धियां इस मामले में कुछ दखल जरूर रखती हैं पर सवाल उन ढांचागत असमानताओं का है जो समाज में भूमिकाओं व परितोषक के आवंटन का मार्गदर्शन करती हैं। इस बुनियादी समस्या के चलते समाज में हमेशा लोगों का एक ऐसा समूह होगा जिन्हें सत्ता व प्रतिष्ठा वाले पदों से वंचित रखा जाएगा, फिर चाहे वे इस प्रकार के वंचन के लायक रहे हों या नहीं। ऐसे समाजों की एक विशेषता है संसाधनों का असमान वितरण जो स्वयं ही शिक्षा को कई तरीकों से प्रभावित करेगा और योग्यता प्राप्ति की राह में अनेक बाधाएं रचेगा।

ऐसे समाज में जहां श्रेणी विभाजन का स्तर ऊंचा हो उपलब्धि व योग्यता का विमर्श लोगों को स्पर्धा करने और अधिक मेहनत करने की प्रेरणा तो देता है क्योंकि यहां पुरस्कार सीमित होते हैं और दावेदार अधिक, फिर भी यह ऐसे समाजों में अन्याय को जायज भी बनाता है। यह कहता लगता है कि यह स्थिति न्यायपूर्ण है और जिन्हें इनाम नहीं मिला दरअसल वे उनके योग्य ही नहीं थे। अर्ल हॉपर (1973) ने उन लोगों के लिए एक 'ठण्डे होने' (कूलिंग ऑफ) की व्यवस्था की दरकार बताई थी जो चयनित नहीं हो पाए हों और जिन्हें अपनी स्थिति (स्टेटस) से समझौता करने में मदद चाहिए थी। क्योंकि अगर वे यह मानने लगें कि व्यवस्था अन्यायपूर्ण या अनुचित है तो वे विद्रोह कर सकते हैं और व्यवस्था में अस्थिरता बढ़ा सकते हैं।

पिछले तीस वर्षों में शिक्षा के समाजशास्त्र का काफी हिस्सा उन तमाम तरीकों के विषय में रहा है जिनसे शिक्षा विमुख हुई, विकृत हुई या कुछ खास तरह के लोगों को उससे वंचित रखा गया। शिक्षा के समाजशास्त्र ने उन तौर-तरीकों का दस्तावेजीकरण किया है जिनके द्वारा कुछ लोगों को अवसरों से वंचित रखा जाता है। इससे वे चुनौतियां भी उजागर हुईं हैं जो योग्यता निर्माण के समक्ष आती हैं।

सामाजिक ढांचा व चयन

शिक्षा के समाजशास्त्र ने मानवीय विकास के आड़े आने वाली सामाजिक अड़चनों को कई तरह से जांचा है। एक मूल विषय (थीम) उन ढांचागत संबंधों की रही है जो चयन की प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करते हैं। इस पक्ष की अभिव्यक्ति अक्सर सामाजिक श्रेणी विभाजन तथा सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान में स्कूली शिक्षा तक लोगों की पहुंच संबंधी अध्ययनों में होती है। इस परंपरा के उदाहरण हमें जे.ई.फ्लाउड, ए.एच. हैल्से तथा एफ.एम.मार्टिन (1956) की पुस्तक 'सोश्यल क्लास एण्ड एज्युकेशनल ऑपर्च्यूनिटीज और ए.एच.हैल्से, ए.एफ.हीथ एवं जे.एम.रिज की पुस्तक (1980), 'ओरिजन्स एण्ड डेस्टिनेशन्स : फैमिली, क्लास एण्ड डेस्टिनेशन इन मॉडर्न ब्रिटेन' में मिलते हैं। इन अध्ययनों में हम लगातार अधिकाधिक परिष्कृत विधियों का उपयोग पाते हैं ताकि यह विश्लेषण किया जा सके कि माता-पिता के सामाजिक सहगामी घटक व्यक्ति के जीवन के अवसरों को किस प्रकार निर्धारित करते हैं।

इस परंपरा का एक दृष्टांत हैल्से के अंतिम पर्चों में से एक में देखा जा सकता है। इसमें म्यूरियल एगरटन तथा ए.एच. हैल्से (1993) इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड तथा वेल्स के स्त्री-पुरुषों के तीन दस वर्षीय दस्तों के अध्ययन के नतीजे बताते हैं। ये समूह 1936 से 1945, 1946 से 1955, 1956 से 1965 के दरमियान जन्मे थे। अध्ययन में सामाजिक वर्ग (जॉन गोल्डथॉर्प द्वारा दी गई टाइपॉलोजी के अनुसार), लिंग तथा उच्च शिक्षा के बीच संबंधों को जांचा गया। इन तीनों समूहों में भिन्न वर्ग की उच्च शिक्षा में बदलाव के प्रति गहन विरोध पाया गया। जिस प्रकार की संस्था को चुना गया तथा किस आयु में डिग्री हासिल की गई इसमें तथा वर्ग की तुलनात्मक स्थिति में एक स्थायित्व भी पाया गया। तथापि लिंग के घटक के प्रभाव में एक क्रमिक कमी नजर आई।

जाहिर था कि कुछ ढांचागत प्रक्रियाएं मौजूद थीं जो सामाजिक गतिशीलता देने की शिक्षा की क्षमता को कुण्ठित कर रही थीं। इस प्रकार के अध्ययनों ने शिक्षा व्यवस्था द्वारा उपलब्ध करवाई जा रही गतिशीलता पर वर्ग, जातियता, प्रजाति, लिंग आदि के प्रभाव का परीक्षण किया है। इसे विभिन्न समाजों की तुलना का आधार भी बनाया गया है। अर्ल हॉपर (1968) ने इसका सैद्धान्तिक मॉडल भी बनाया था। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता के चरित्र को आधार बना शिक्षा व्यवस्थाओं का वर्गीकरण भी प्रस्तावित किया जिसमें चार धुरियां थीं : (1) चयन केंद्रीकृत, एकरूप व्यवस्था से हुआ या विकेन्द्रित व्यवस्था के द्वारा जो स्थानीय विशिष्ट वर्ग तथा गुटों को स्थान देता है। (2) प्रारंभ में या बाद में अन्तर करना या विशेषज्ञता के रास्तों में बांटना। (3) पाठ्यचर्या की विशिष्टतावादी विचारधारा बनाम सार्वभौमिक विचारधारा। (4) चयन के व्यक्तिवादी आधार बनाम सामूहिक आधार। इस प्रकार शिक्षा व अवसरों की विभिन्न देशों में जो छवि उभरी वह पेचीदा थी और उसमें योग्यता के समक्ष बहु-आयामी अवरोध थे। रिचर्ड ब्रीन तथा जैन ओ जॉन्सन (2005) ने हाल में उन अध्ययनों की समीक्षा की जो 1990 से प्रारंभ किए गए थे और यूरोपीय देशों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में शिक्षा तथा अवसरों की असमानता के रिश्तों को जांचते थे।

भारत में जो विवाद रहे हैं वे संबंधित प्रक्रियाओं की व्यवस्थित छवि निर्मित करने के बदले सरकारी व दानदाता संस्थाओं की नीतियों से जुड़े रहे हैं। अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति तथा बालिकाओं के नामांकन को प्रभावित करने वाले घटकों पर ढेरों अध्ययन हुए हैं। विमला रामचन्द्रन, आरती सैहजी (2002) ने ऐसे कई अध्ययनों की समीक्षा की ताकि गहरे पैठी असमानताओं और स्थिति में क्रमशः आ रहे सुधार को चित्रित कर सकें। गीता नामबिस्सान (2001) ने राजस्थान के आठ गांवों में जाति, वर्ग तथा लिंग संबंधी स्पष्ट असमानताओं का मानचित्रण किया।[1] मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा विभाग का वार्षिक प्रतिवेदन कहता है कि 2002 तक आते-आते दसवीं कक्षा तक की ड्रॉपआउट दर 63 फीसद हो गई थी।[2] इसके विपरीत अमेरिकी स्कूलों में स्कूली पढ़ाई पूरी नहीं कर पाने वाले बच्चों की दर 12 से 15 प्रतिशत के बीच है।[3] आश्चर्यजनक है कि कोई इस बात पर चर्चा नहीं करता कि दरअसल कितने भारतीय बच्चे बारहवीं कक्षा से निकलते हैं और कॉलेज जाने के योग्य होते हैं। मुझे इस विषय पर भरोसेमंद आंकड़े नहीं मिल पाए हैं। मेरा अपना अनुमान यह है कि योग्यता पा लेने वाले समूह के तकरीबन 80 फीसद युवक-युवती बारहवीं कक्षा के बाद किसी स्पर्धात्मक परीक्षा में बैठने तक के अवसर से वंचित किए जाते हैं। यह तथ्य बताता है कि हमारे देशों के बीच तुलनात्मक असमानता की और उनमें उपलब्ध अवसरों की क्या स्थिति है। इससे हमें यह भी पता चलता है कि पिछले पचास सालों में अवसर बढ़ाने के प्रति हमारे देश के सबसे सत्ता सम्पन्न तबके की कटिबद्धता कैसी रही है।

चयन की सूक्ष्म-प्रक्रियाएं

शिक्षा के समाजशास्त्र की एक अन्य मूल दिशा रही है उन सूक्ष्म-प्रक्रियाओं का अध्ययन जो शैक्षणिक चयन को पहले ही से किसी दिशा में झुकाते हैं। यह सच है कि अवसरों से वंचित रखने का काम काफी हद तक इसी बात से सम्पन्न हो जाता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अभाव हो या बच्चे जिन स्कूलों में जा सकते हैं उनके स्तरों में ही अन्तर हो। पर इसके साथ ही हमें सूक्ष्म प्रक्रियाओं के अध्ययन बहुत कुछ बताते हैं कि जब बच्चे एक ही तरह के स्कूल में भी जाते हैं तब कौनसी लघु-प्रक्रियाएं उनमें से कुछ को अन्दर और कुछ को बाहर करती हैं। इस विषय में एक बैंचमार्क

अध्ययन 'लेबलिंग सिद्धान्त' के आधार पर डेविड हरग्रीव्स, स्टीफन हेस्टर तथा फ्रेंक मेलर (1975) द्वारा किया गया। उन्होंने यूके के दो माध्यमिक स्कूलों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षक छात्रों को श्रेणियों में बांटने की ऐसी प्रक्रिया अपनाते हैं जो जल्दी ही एक गैर-लचीले ढांचे में बदल जाती है। इस प्रक्रिया में एक प्रारंभिक अनुमान लगाने का चरण होता है जिसमें शिक्षक बच्चे कैसे हैं, यह समझने की कोशिश करते हैं। यह मुख्यतः बच्चा कैसा दिखता है, अनुशासन को स्वीकारता है या नहीं, उसमें पसंद आने लायक गुण हैं या नहीं, दूसरे बच्चों के साथ उसका व्यवहार कैसा है और उसका आचरण अपेक्षित आचरण से कितना भिन्न है आदि पर गौर करके किया जाता है। ये तमाम मानक कुछ संस्कृतियों के पक्ष में तो कुछ के विरुद्ध पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते हैं। ठप्पा लगाने (लेबलिंग) के अनुमान चरण के बाद एक विस्तारण चरण (इलैबोरेशन फेज) आता है जिसमें बच्चों के साथ अंतःक्रिया (फिर चाहे वह किसी भी तरह का क्यों न हो) के आधार पर प्रारंभिक ठप्पे की पुष्टि या संशोधन किया जाता है। इसके बाद ये लेबल या ठप्पे स्थिर हो जाते हैं और अमूमन शिक्षक की कक्षा में बिताए शेष समय में बने रहते हैं। ऐसी ठप्पेबाजी शिक्षकों द्वारा परिभाषित रुझानों में बालकों के विकास की पुष्टि करते हैं और उन्हें खांचों में धकेलते हैं।

पद्मा सारंगपाणि (2003) दिल्ली के निकट स्थित एक स्कूल के नृजातीय (एथनोग्राफिक) अध्ययन में इसी के समान्तर प्रक्रिया का चित्रण करती हैं। उनका कहना है कि एक 'शिक्षित व्यक्ति' का एक आधारभूत मानक होता है और छात्रों को 'आदर्श छात्र' और 'असफल' जैसी श्रेणियों से छान कर निकाला जाता है। आदर्श छात्र उसे कहा जाता है जो आज्ञाकारी हो, शिक्षकों और माता-पिता के समक्ष 'अच्छा' बर्ताव करे और एक खास किस्म की साफ-सफाई रखे।

शिक्षकों तथा स्कूल के विरुद्ध विद्रोह भी सामान्यतः फर्क नतीजों तक नहीं पहुंचाता। पॉल विलिस (1977) की प्रख्यात 'लर्निंग टू लेबर' स्कूलों में श्रमिक वर्ग के बच्चों का एक सूक्ष्म नृशास्त्र ही था। विलिस उन विद्रोहियों के साथ रहता था जो अपने शिक्षकों का मखौल बनाते और उन छात्रों को गालियां देते जो संस्था की सत्ता के सामने झुकते और उसे स्वीकारते थे। इन विद्रोहों ने श्रमिक वर्ग के कुछ बच्चों में स्कूल की निरंकुश छवि और जिस सब का वह प्रतिनिधित्व करता था के विरुद्ध आत्मसम्मान जरूर बढ़ाया। फिर भी इन्हीं विद्रोहों ने यह भी सुनिश्चित किया कि वे स्कूल के माध्यम से उपलब्ध होने वाली सम्भावनाओं से और दूर हो जाएं। इससे यह भी तय हो गया कि वे श्रमिक वर्ग की नौकरियों में ही जकड़े रहेंगे। उनसे निकल नहीं पाएंगे।

संस्कृति व पाठ्यचर्या

योग्यता के प्रश्न पर जो बुनियादी मुद्दा उभरता है वह है शेष की कीमत पर कुछ संस्कृतियों तक फायदों का सीमित रहना। उदाहरण के लिए, थॉमस सोवैल (1981) अमेरिका के उन समुदायों में स्कूल में अनुकूलन में आसानी और इस कारण जिस प्रकार के पेशों तक उनकी पहुंच बन सकी की बात लिखते हैं जिनमें साक्षरता की सशक्त परंपरा रही हो। सोवैल ने कहा कि यहूदी जिनमें तालमूद (यहूदी विधि संग्रह) के अध्ययन की लम्बी परंपरा रही है, स्कूलों में आइरिश-अमेरिकियों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन करते हैं, जिनकी जीवन्त व खुशनुमा मौखिक परंपरा रही है। इस अवलोकन से भारतीय स्कूलों में कौन बेहतर प्रदर्शन करता है का भी तत्काल अहसास होता है।

पिएरे बोरदिउ ने शिक्षा, वर्ग तथा संस्कृति पर जो काम किया वह हमें विभिन्न समुदायों के गुप्त लाभ और हानियों को समझने में मदद करता है। बोरदिउ (2003) तर्क करते हैं कि स्कूलों में निरंकुश संस्कृतियां हावी रहती हैं और उनके समक्ष घुटने टेकने पर प्रभुत्व का तथ्य नजर से ओझल हो सकता है। मिथक, जैसा रोलेण्ड बार्थेस सुझाया करते थे, इतने सशक्त महज इसलिए होते हैं क्योंकि वे इतने 'स्वाभाविक' लगते हैं। इन निरंकुश संस्कृतियों की ताकत में पगी संस्थाओं में विभिन्न सामाजिक स्रोतों से - समुदाय, वर्ग, लिंग आदि से - आए बच्चे दाखिल होते हैं। उनका सामाजिक उद्भव उनमें वह निर्मित करने के लिए जिम्मेदार हैं जिसे बोरदिउ आदत (हैबिट्स)* कहते हैं और स्थाई चित्रवृत्तियां भी जो भिन्न परिस्थितियों में खास किस्म की प्रतिक्रिया के पैटर्न पैदा करते हैं। आदत वह वस्तु है जो रोजमर्रा की क्रियाओं को गहन, गुप्त आचरण संहिताओं से जोड़ते हैं। यही वह आधार है जो संहिताओं से प्रदर्शन उत्पन्न करता है, वैसे ही जैसे कोई उस्ताद बांसुरी से किसी मूल राग को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। श्रोता जो इस संहिता को साझा करते हैं, समझते हैं, वे उस्ताद के प्रदर्शन को समझ पाते हैं, उससे उद्वेलित होते हैं और उन्हें ध्वनियों का ऊटपटांग संकलन, अर्थात् शोरगुल नहीं मानते। स्कूलों व विश्वविद्यालयों में किन्हीं सुविधाओं का लाभ उठा पाना उन लोगों के फायदेमंद सिद्ध होता है, जिनमें संगत आदत हों।

जिन समूहों की संगत ऐतिहासिक परंपरा हो वे किन्हीं विशिष्ट स्थितियों के अनुकूल अधिक आदत तथा संहिताओं का संचय कर

* हैबिट्स : हैबिट्स का अनुवाद आदत किया गया है। इसे ग्रहण किए गए विचार, व्यवहार और रुचि के समूह के रूप में देखा जा सकता है जो सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवहार के बीच कड़ी बनाता है।

पाते हैं। यह सांस्कृतिक पूंजी उन्हें उस समय भी फायदेमंद स्थिति में रखती है जब वे यह दावा कर सकते हैं कि सभी एक समान मैदान में स्पर्धा कर रहे थे। सत्तावान लोगों की सांस्कृतिक पूंजी, जो आधुनिक संस्थाओं में उनकी वर्चस्व की स्थिति के कारण उन्हें मिलती है, उन्हें कई तरह के लाभ उपलब्ध करवाती है। बोरदिउ ने अपनी पुस्तकों 'द इनहेरिटर्स : फ्रेंच स्टूडेंट्स एण्ड देयर रिलेशन टू कल्चर' (1979) तथा 'डिस्टिंक्शन : ए सोश्यल क्रिटीक ऑव द जजमेंट ऑव टेस्ट' (2003), में तमाम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो इसकी पुष्टि करते हैं कि अब संस्कृति के माध्यम से असमानता अपने इर्द-गिर्द सीमाएं बनाती है। परिस्थिति की बुनियादी असमानता ऐसे फायदों तक ले जाती है जो कर्म से नहीं बल्कि जन्म से ही मिलते हैं।

किसी समस्या से सलटने में सर्वाधिक उपयुक्त है ऐसा प्रभुत्व जो सांस्कृतिक विशेषताओं पर आधारित हो। पर यह भी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का हो सकता है, जिसने लाभ महज इसलिए दिया हो क्योंकि वह उस क्षेत्र में पहले से प्रभावशाली था। बोरदिउ का तर्क था कि तुलनात्मक रूप से नए क्षेत्र में प्रवेशकर्ताओं पर इसके प्रभाव को प्रतीकात्मक हिंसा के रूप में देखा जा सकता है। भारत में आदत व कक्षा में उभरने वाली प्रतीकात्मक हिंसा स्वयं को विकृत तरीकों से अभिव्यक्त करती है। राहुल वर्मन (2006) लिखते हैं :

''... इंजिनियरिंग की अपनी पहली कक्षा में मुझे बताया गया कि एक अच्छा इंजीनियर वह है जो न्यूनतम संसाधनों से श्रेष्ठतम उत्पादन कर सके और ठीक इसी तरह प्रबंधन को भी किसी अनिश्चित स्थिति में अपनी राह तलाशनी होती है - या सीमित संसाधनों को सर्वश्रेष्ठ तरीके से आवंटित करना होता है। अगर ऐसा ही है तो मैंने हमारे वंचित जनसमुदाय को जितना कुछ देखा है (जिनमें बहुलांश पिछड़ी, दलित जातियों या आदिवासियों का है), उनमें लगभग कुछ नहीं से कुछ उत्पादक बना डालने की विलक्षण क्षमता होती है। विगत कुछ वर्षों से मैं लघु उद्योग संकुलों - जैसे मुराबाद में पीतल के काम, बनारस में रेशम की बुनाई और कानपुर में चमड़े के काम का अध्ययन कर रहा हूं। इन्हें अगर शामिल कर लिया जाए (यानी देशभर के सभी संकुलों को एक साथ ले लिया जाए) तो वे सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) क्षेत्र से अधिक निर्यात कर रहे हैं और रोजगार देने की उनकी साझा क्षमता आई.टी. उद्योग से कई गुना ज्यादा होगी। इन सभी संकुलों में वे न्यूनतम संसाधनों - छोटे निवेश, एयर कंडिशनिंग की बात तो जुदा रही; बिना बिजली के, सड़क हीन इलाकों, पानी की कमी और लगभग बिना औपचारिक शिक्षा के काम करते हैं। ये संकुल तथाकथित पिछड़ी/दलित जातियों से बने हैं और हमारे समाज की विलक्षण बुद्धि की प्रशस्ति ही हैं। फिर भी शताब्दियों से समाज को अपना श्रेष्ठतम देने वाले इन समुदायों ने बिरले ही कोई औपचारिक 'इंजीनियर', 'डॉक्टर' या 'मैनेजर' का उत्पादन किया है। दूसरी ओर आईआईटी, आईआईएम जैसे विशिष्ट संस्थानों ने भी ऐसे उद्योगों और उनसे जुड़े लोगों से किसी प्रकार के संपर्क-सूत्र विकसित नहीं किए हैं।''

ज्ञान की विषयवस्तु का - जिस पर परीक्षाओं को आधारित किया जाता था - उस ऊपरी स्तर जिसके लिए छंटनी की जा रही हो, के साथ एक परोक्ष रिश्ता होता है। इंजीनियरों के चयन के समय मानव संसाधन प्रबंधक आमतौर पर यह टिप्पणी भी करते थे कि बारहवीं कक्षा तक पढ़ा कोई सामान्य व्यक्ति भी उन कामों को बखूबी कर सकता था बशर्ते उसे छह माह का प्रशिक्षण दे दिया जाए। उन्हें जिस चीज की तलाश थी वह था एक नजरिया - ऐसा नजरिया जो यह जताए कि वह व्यक्ति संगठन की मौजूदा संस्कृति में अच्छी तरह खप सकेगा।

परन्तु जिन स्थितियों में यह सांस्कृतिक पूंजी किए जाने वाले काम से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई भी हो, तब भी उसका विभाजन ऐतिहासिक फायदे की अभिव्यक्ति ही बनी रही। उदाहरण के बतौर श्रमिक वर्ग से आने वाले नौजवान, चाहे अपनी पाठ्यपुस्तकों से चिपक ही क्यों न जाते, कम से कम शुरुआत में, वे अध्ययन के प्रति उस प्रकार की प्रेरणा नहीं तलाश पाते थे जो उनके उच्च वर्ग से आने वाले साथियों में मौजूद होती थी। वह कारणत्व की संहिता (कोड ऑव इन्स्ट्रूमेंटेलिटी) बनी रहती, रचनात्मकता या स्व-अभिव्यक्ति की संहिता नहीं बन पाती। मैं यह प्रतिदिन अपनी समाजशास्त्र की कक्षाओं में देखता हूं। जिन परिवारों में साहित्यिक लेखन को, फिर चाहे वह प्रेमचन्द हों या ग्रेब्रिएल गार्सिया मार्खेज हों, मूल्यवान माना जाता है, उनसे आने वाले छात्र हमारी चर्चा से उद्वेलित होते हैं। परन्तु दूसरे छात्र हमारी चर्चा से कितने भी उद्वेलित क्यों न हों (समाजशास्त्र भला किसे उद्वेलित नहीं करता?), कक्षा में जो हो रहा हो उसे समझने, उन सूत्रों को थामने की चेष्टा में स्वयं को जूझता पाते हैं। यह सच है कि वे अंततः अपने पैर टिकाने का ठौर तलाश लेते हैं, पर उन्हें बड़ी आसानी से योग्यताहीन करार दिया जा सकता था और उनके लिए भविष्य में सीखने के अवसरों को बन्द भी किया जा सकता था।

जाहिर है कि ऐसे में योग्यता को एक व्यक्ति की लियाकत को नापने का मापक यों ही नहीं माना जा सकता। बेहतर हो कि हम लूइस एल्थ्यूसर तथा क्लिफर्ड ग्रीर्ट्स (तमाम अन्य मान्य प्रख्यात पथप्रदर्शकों के साथ) की परंपरा में योग्यता एक सांस्कृतिक शिल्प-तथ्य (आर्टिफैक्ट) के रूप में देखें। अर्थात् हम उसे, परस्पर संबंधित, एक-दूसरे को पुष्ट करने वाले, पर पेचीदा व विजातीय अर्थों के रूप में देखें जिसका वास्तविकता से केवल आंशिक जुड़ाव हो। ग्राम्शी, फूको तथा बार्थेस के साथ हम योग्यता के विमर्श को हितों की एक

शृंखला से प्रभावित होता पाते हैं, वह सत्ता से विकृत होती है और सतर्क समूहों की ध्वनियों से आकार लेती है। सभी अच्छे और सशक्त मिथकों की तरह वास्तविकता से उसका केवल आंशिक जुड़ाव होता है। परन्तु मिथकों का आकर्षण इसलिए भी होता है क्योंकि वे ऐसे सामान्यीकरण गढ़ते हैं जो किन्हीं परिस्थितियों में सटीक बैठते हैं और कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं। सत्ता की जरूरतें और उसके विरोध की आवश्यकताएं इनमें प्रमुख हैं।

प्रत्यात्मकता

योग्यता की धारणा की एक सशक्त अंतर्दृष्टि हमें उससे मिलती है जिसे प्रत्यात्मकता (क्रिडेन्शियलिज्म) कहा जाता है। रॉनैल्ड डोर, रैन्डल कॉलिन्स तथा हालिया सालों में स्टीवन ब्रिन्ट जैसे लोगों ने आधुनिकता के संदर्भ में डिग्रीधारी व्यक्ति की योग्यता के प्रचलित निहितार्थ को बिना सवाल उठाए मानने के बदले कागजी डिग्रियों के बढ़ती लोकप्रियता को जांचा है। इस दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि इससे हमें यह समझने में मदद मिलती है कि प्रत्यायक* ने कितना प्रमुख स्थान ले लिया है।

रॉनैल्ड डोर (1976, 1997)[4] ने आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण के साथ उभरते नए संगठनात्मक स्वरूपों के बारे में लिखा। उनकी चेष्टा थी कि वे चयन को विवेकपूर्ण सिद्ध करने के लिए डिग्रियों तथा अकादमिक प्रदर्शन पर बल दें। पहली दुनिया की अर्थ-व्यवस्थाओं में जहां ऊपरी स्तर पर आवेदकों की तुलना में नौकरियां काफी कम थीं, वहां योग्यताओं को स्फीति की प्रक्रिया चालू हुई। किसी भी निश्चित स्तर के लिए न्यूनतम योग्यता क्रमशः बढ़ने लगी। डोर ने लिखा कि अगर पहले एक बस कन्डक्टर बनने के लिए जूनियर सैकेण्डरी स्कूल का सर्टिफिकेट काफी माना जाता था, तो बस कम्पनियों ने अपनी अपेक्षा को सीनियर स्कूल सर्टिफिकेट बनाना शुरू किया। इससे साक्षात्कार करने पर लगने वाला समय बचता था और वे लोग भी दूर रखे जा सकते थे जो अपने भांजे-भतीजे को नौकरी देने का दबाव डाल सकते थे। डोर ने तर्क किया कि पिछली शताब्दी के दौरान इस प्रक्रिया के चलते योग्यता में ऐसी स्फीति हुई है जिसका काम की आवश्यकताओं से कोई लेना-देना नहीं है, नतीजतन शैक्षणिक संसाधनों का भी अपव्यय हुआ है। साथ ही इसने शिक्षा के अर्थ को इस कदर तोड़ा-मरोड़ा कि शिक्षा को, आत्म-सुधार या किसी काम को बेहतर करना सीखने का जरिया मानने के बजाए महज नौकरी पाने का साधन बना दिया। डोर तर्क करते हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में इस प्रक्रिया का विकृत असर यह पड़ा कि यहां पुराने तथा नए उद्योगों के वेतनों में भारी अन्तर आ गया।

रैन्डल कॉलिन्स ने (1971, 1979) में प्रत्यात्मकता पर बेहतर सैद्धान्तिक उपकरणों का उपयोग किया। वे इस दावे के प्रति शंकालु थे कि योग्य लोगों के चयन से तकनीकी फायदा होता है और इन फायदों के आधार पर समाज को श्रेणियों में बांटा जाता है। कॉलिन्स ने आंकड़े जुटा कर दर्शाया कि विभिन्न प्रकार के काम करने के लिए कामगारों को जो न्यूनतम पढ़ाई करनी पड़ती थी उसमें पिछली एक शताब्दी में स्पष्ट उछाल आया है। तथापि उन्होंने यह इंगित भी किया कि कागजी डिग्रियों में जो बढ़ोतरी हुई थी वह उत्पादकता में वृद्धि के साथ जुड़ती नजर नहीं आ रही थी। अधिक शिक्षा आवश्यक रूप से बेहतर और अधिक कुशल कामगार सुनिश्चित नहीं कर रही थी। इसमें जो परिवर्तनशीलता या अस्थिरता थी उसके लिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी।

इन घटकों में जो ढीलापन था उसका स्पष्टीकरण तलाशने के लिए कॉलिन्स ने आधुनिक संगठनों में सत्ता की प्रक्रियाओं को जांचा। उन्होंने तर्क किया कि आधुनिक संगठनों में जो केंद्रीय प्रक्रिया है वह है ऐसे समूहों का गठन जो सत्ता पर एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं और एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। ये समूह वेबर के अर्थ में सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा (स्टेटस) समूह होते हैं। प्रतिष्ठा समूहों में प्रवेश के संकेतकों का कार्य प्रत्यायक करते हैं जो इन समूहों के अर्थ व महत्त्व में भी अत्यावश्यक योगदान करते हैं। प्रत्यायक स्फीति की प्रक्रियाओं के साथ, प्रतिष्ठा समूहों की राजनीति की गतिशीलता (डायनैमिक्स) भी तकनीकी कार्यकुशलता में साखपत्रों को उनके वास्तविक योगदान से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा कर दृश्य बनाते हैं।

ऐसी दुनिया में जो दिनों-दिन अधिक अफसरशाही बनती जा रही है एक नई तरह की दायित्वहीन राजनीति उभरी है। इसकी एक प्रमुख अभिव्यक्ति है पेशों (प्रोफेशन्स) का प्रतिष्ठा समूहों के रूप में विकास जो उसकी सीमाओं पर एकाधिकार स्थापित करते हैं। समसामयिक तर्क संगत व्याख्या प्रस्तुत करने वाले युग में कागजी प्रत्यायक ही इन समूहों में प्रवेश करने के पास का काम करते हैं। कॉलिन्स ने अमेरिका में चिकित्सकों (मेडिकल प्रोफेशनल्स) द्वारा इस राजनीति को अख्तियार करने के सफल प्रयासों की ओर इंगित करते हुए उनकी तुलना इंजीनियरों की असफलता से की, जो एकजुट

* प्रत्यायक : क्रेडेन्सिल का अनुवाद प्रत्यायक और क्रेडेन्सियलिज्म का प्रत्यात्मकता किया गया है। क्रेडेन्सिल शब्द का प्रयोग ऐसे औपचारिक सूचक के रूप में किया जाता है जो किसी व्यक्ति के सम्मान को स्थापित करता है। उदाहरण के लिए, किसी पुस्तकालय में जाने के लिए परिचय पत्र का होना या किसी देश में राजदूत का पहली बार विदेश मंत्री से मिलने के लिए एक औपचारिक पत्र का ले जाना आदि। अनेक बार इसका प्रयोग डिग्री और सर्टिफिकेट के लिए भी किया जाता है। इसे एक किस्म की साख के रूप में भी देखा जा सकता है।

न हो पाए और जिनके कार्यक्षेत्र एकाधिक प्रवेश द्वार थे और उद्योग के क्षेत्र में जिनका श्रेणी-विभाजन भी ढीला-ढ़ाला था।

विचारधारा के रूप में योग्यता

चर्चा को समेटते हुए कहा जा सकता है कि उपलब्धि और योग्यता उस संस्कृति तथा राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मुख्य अवधारणाएं हैं जो जन्म और समुदाय के आधार पर विशेषाधिकारों की व्यवस्था पर हमला करते हैं। वे मानवीय स्वतंत्रता और समानता पर बल देते हैं। पर विडंबना यह है कि वे साथ ही, आसानी से पहचाने जा सकने वाले उन विभाजनों पर मुलम्मा भी चढ़ाते हैं जो ठीक उन्हीं सिद्धान्तों को अवरुद्ध करते हैं जिनकी रक्षा का दावा योग्यता करती है।

योग्यता की अवधारणा की सामान्यबुद्धि वाली व्याख्या को स्वीकारने में निम्नोक्त बुनियादी समस्याएं हैं - (1) यह अवधारणा व्यक्ति को एक सामाजिक ढांचे के हिस्से के रूप में देखने के बदले, यह स्वीकारने के बजाए कि व्यक्ति दरअसल उपलब्ध सांस्कृतिक व सामाजिक संसाधनों से ही ग्रहण करता है, योग्यता को व्यक्तिगत कृत्यों पर आधारित मानती है; (2) यह अवधारणा भूलवश पुरस्कारों में पैनी असमानता को वैध ठहराती है; (3) यह अन्याय पर आधारित अर्थव्यवस्था को भूलवश जायज ठहराती है; (4) कर्म के बजाए जन्म पर आधारित कई फायदों को आगे बढ़ाती है; (5) ऐसी तकनीकी कुशलताओं का दावा करती है जो वास्तविक हो सकती हैं या नहीं भी हो सकती; (6) प्रतिष्ठा समूह की राजनीति को इससे भूलवश वैधता मिलती है।

एक उदारवादी लोकतंत्र में योग्यता अब एक ऐसी सांस्कृतिक व्यवस्था का अंश नजर आती है जो निकटता से अवसरों और संसाधनों के श्रेणियों में विभाजित करने से जुड़ी है। अफसरशाही संगठनों के रूप में यह हमारे जीवन विश्व की यौक्तिकता से घनिष्टता से जुड़ी है। समसामयिक वाद-विवादों में जिस प्रकार इसका आम प्रयोग होता है, योग्यता का विचार हमें स्वतंत्रता तथा अवसरों की विचारधारा उपलब्ध करवाती है और उन प्रक्रियाओं को भी वैधता देता है जो ठीक इन्हीं आदर्शों को नकारते हैं। इससे योग्यता की अवधारणा एक खास किस्म की सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन देती है, उसे टिकाऊ बनाती है और उसे एक ऐसी विचारधारा बना डालती है जो समाज के कुछ समूहों के हितों के लिए उपयुक्त हो।

योग्य लोगों का समाजशास्त्र ?

भारत में एक ऐसा हिस्सा उभरा है जिनके पुरस्कार और महत्वाकांक्षाएं योग्यता की ऐसी ही सांस्कृतिक व्याख्या से जुड़े हैं। ये वे लोग हैं जो आधुनिकता के संगठनात्मक प्रकारों में समेकित हो गए हैं या उस समेकन की तलाश में हैं। आज भारत में करोड़ों लोग योग्यता की सौगंध उठाने को तैयार हैं। लाखों छात्र और उनके माता-पिता योग्यता की अवधारणा के बचाव में सड़कों पर उतरने को प्रेरित होते हैं। दिन-रात मेहनत कर किसी प्रतिष्ठित संस्थान में अंततः प्रवेश पाने वाले को अगर आरक्षित कोटा का उम्मीदवार पछाड़ देता है तो इसमें उसकी गलती आखिर क्या है। यह परिदृश्य उन्हें बेहद उद्वेलित करता है और उनके गहनतम मूल्यों को चुनौती देता है। आरक्षण के विरोधियों के मन में तिरस्कृत तथा आहत होने का भाव होता है। उनमें से कुछ तो यह घोषणा तक कर डालते हैं कि आरक्षण द्वारा योग्यता को नकारना हमारी राष्ट्रीयता पर ही हमला है।

यह विचार कि योग्यता को समाज में पुरस्कार तथा पदों का विभाजन करना चाहिए, जैसा पहले चर्चा भी की जा चुकी है, तुलनात्मक रूप से हालिया विचार है विगत कई शताब्दियों में भारत ने इसका विपरीत ही देखा है - उदाहरण के लिए मुगलों ने उच्चस्थ पदों को तुर्कों, अफगानियों और ईरानियों तक ही सीमित कर दिया था, और कभी-कभार यह आरक्षण राजपूतों को भी शामिल कर लेता था। जाति व्यवस्था ने दुनिया में सबसे बारीकी से व्याख्यायित आरक्षण व्यवस्था को विकसित किया था, जो साफ-साफ यह अनुबद्ध करती थी कि उच्च पदों की आकांक्षा कौन रख सकता है और कौन नहीं। जहां कई समाजों के बुनियादी ढांचे सगोत्र या सजातीय समूह उपलब्ध करवाते थे, वहां योग्यता का उपयोग विवाह तथा वंश की सीमा में ही समाप्त होता था। यह विचार नया ही है कि एक खुली परीक्षा में जो हमसे यह न पूछे कि हम किसके यहां जन्मे हैं, बल्कि हम जो बन गए हैं केवल उसे जांचे - हम एक-दूसरे से स्पर्धा कर सकते हैं, और हमें करनी भी चाहिए।

यह खुली योग्यता आधारित व्यवस्था भारत में ब्रिटिशरों द्वारा लाई गई, उन्हीं ब्रिटिशरों द्वारा जिन्हें हम अपनी शिक्षा और संस्कृति की तमाम समस्याओं के लिए जिम्मेदार ठहराने से नहीं चूकते। उन्होंने यहां चाहे दूसरी कितनी भी गड़बड़ियां की हों, खुली परीक्षा व्यवस्था ने सजातीय/सगोत्रीय समूहों की सीमाओं को तोड़ा और कम से कम सिद्धान्ततः यह नकारा कि वे शाश्वत हैं। ब्रिटिशरों में भी यह कोई प्राचीन व्यवस्था नहीं थी। भारत की ही तरह वहां भी योग्यता की धारणा हमेशा ही संकीर्ण व प्रतिबन्धित रूप में अस्तित्व में थी। एक परिसीमित समुदाय में समानता के विचार को स्वीकारा जरूर गया था - ठीक उसी तरह जैसे भारत में एक आयु के सभी वयस्क पुरुषों को एक जाति या गोत्र के तहत समान माना जाता था - और नेता का चयन इस परिधि में तुलनात्मक रूप से आजादी के साथ किया जा सकता था। परन्तु किसी देश के सभी समुदायों के बीच ऐसा करना सम्भव नहीं था। जब इंग्लैण्ड में पहली बार यह विचार आया कि सार्वजनिक सेवाओं के लिए व्यक्तियों का

चयन खुली परीक्षाओं के आधार पर हो, तो यह एक क्रांतिकारी विचार था।

इंग्लैण्ड में इसके पूर्व की व्यवस्था, ठीक भारत की तरह संरक्षण, घूसखोरी और भाई-भतीजावाद की थी। सत्तारूढ़ सामन्तशाही के धनी व प्रभावशाली सदस्य अपने रिश्तेदारों और समर्थकों को राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करते थे। किन्हीं परिस्थितियों में ऊंचे रुतबे या पद को खरीदना भी सम्भव था। यद्यपि लियाकत महत्त्वपूर्ण थी, परन्तु व्यक्ति जिस परिवार में जन्मा था वह स्पष्ट सीमा-रेखा बनाता था और वंशानुगतता सत्तावानों के विशेषाधिकारों के इर्द-गिर्द चौहद्दी बनाती थी। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापारिक व उत्पादक वर्गों के उभरने के साथ यह व्यवस्था काफी हद तक चरमराई क्योंकि इन नए वर्गों ने भी विशेषाधिकारों में हिस्सा मांगा। सत्ता के बंद घेरे को खोलने की मांग का नेतृत्व इन्हीं वर्गों ने किया। इस अभियान में विज्ञान एक महत्त्वपूर्ण सहायक बना। विज्ञान ने वे तर्क और प्रमाण उपलब्ध करवाए कि लोगों के बीच मौजूद भेद समाज द्वारा निर्मित है न कि किसी विशेष दैवी शक्ति के कारण। सामन्तशाही जिन विशेषाधिकारों का अब तक दावा करती रही थी उन पर कुठाराघात करने का अस्त्र विज्ञान बना। अगर सभी समान पैदा हुए हैं तो कोई भी महज जन्म के आधार पर विशिष्ट प्रतिष्ठा का दावा नहीं कर सकता। इस प्रकार योग्यता की धारणा को समर्थन-सहयोग मिला। व्यापारी, उत्पादक तथा पेशेवर लोगों के समूहों ने मांग यह की कि राजकीय पद उन लोगों के लिए खोल दिए जाने चाहिएं जिनमें मेहनत, अध्ययन द्वारा हासिल किए गुण हों और खास लियाकत हो। और ये ही वे पेशेवर समूह भी थे जिनके बच्चे लगातार बढ़ती संख्या में विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाने लगे थे और यों अकादमिक क्षेत्र के प्रतीक भी योग्यता की धारणा के आधार पर परिभाषित किए जाने लगे। यहां वांछनीय गुण विश्वविद्यालयों की पाठ्यचर्या तथा परीक्षाओं के आधार पर परिभाषित होने लगे।

इस सबका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा उन अफसरशाही संगठनों पर जो आधुनिकता के आगमन के साथ-साथ उभरने लगे थे। इन संगठनों में वैध शक्ति का आधार बदलने लगा। ऐसे समूह उभरे जो राजकीय परिवारों में जन्म के बदले 'योग्यता' को इस वैधता का स्रोत मानने पर बल देने लगे। समाज के परिवर्तन के संदर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था क्योंकि इससे बंद, उत्तराधिकार आधारित समाज एक खुले उपलब्धि आधारित समाज में बदलने लगा। इंग्लैण्ड में इस काल में कई पुरुषों की स्वतंत्रता में इजाफा नजर आने लगा। इस प्रक्रिया में विज्ञान व योग्यता महत्त्वपूर्ण योगदाता रहे। फिर भी योग्यता का एक दूसरा पक्ष भी था जो जल्दी ही उभरा।

ब्रिटिश साम्राज्य में पहली व्यापक खुली परीक्षा जिसमें लोगों को योग्यता के आधार पर चयनित किया जाता हो, भारतीय सिविल सेवा में भर्ती के लिए आयोजित की गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशकों ने इसका पुरजोर विरोध किया, परन्तु ब्रिटिश संसद अंततः 1853 में उन पर हावी हो सकी। परन्तु खुद ब्रिटेन में ब्रिटिश उच्च वर्ग स्पर्धात्मक परीक्षाओं को अपने देश की घरेलू सिविल सेवा पर आगामी कई सालों तक लागू नहीं होने देने में सफल रहा। इसके बावजूद योग्यता के सांस्कृतिक आयाम इस प्रारंभिक दौर में भी देखे जा सकते हैं - भारत के प्रशासकों का चयन उनके ग्रीक व लैटिन भाषाओं के ज्ञान के आधार पर किया जाता था। कई सालों तक भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा इंग्लैण्ड में ही आयोजित होती थी, जिसके कारण उन भारतीयों की संख्या बेहद सीमित रहती थी जो इनमें बैठ सकें। उन्हें भारत में भी आयोजित करने के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ा। ब्रिटिश अफसरशाही समानता और योग्यता की बात केवल उस हद तक चाहती थी जब तक उससे अब तक बन चुके प्रतिष्ठित समूह के हित सधें। पर जब इसकी मांग उनके ही देश के गरीब तबके या उपनिवेशों के आवासियों द्वारा की जाने लगी तो वे सहयोग देने में हिचकते रहे।

जब ब्रिटिश भारत में अपनी शिक्षा व्यवस्था लाए, तब परीक्षाएं उसका अनिवार्य हिस्सा थीं। जिन समुदायों में साक्षरता तथा पिछले शासकों की सेवा का पूर्व इतिहास था वे इस नई व्यवस्था को अपनाने में सबसे आगे रहे। खुली परीक्षाओं का क्रांतिकारी कदम इस देश में विभाजन की दीवारों को तोड़ने में मददगार रहा। ऐसा नहीं है कि इस संबंध में ब्रिटिश रिकॉर्ड बेदाग रहा हो क्योंकि वे अपनी सेना आदि में भर्ती के लिए दूसरी तरह के धर्म व समुदाय आधारित आरक्षण गढ़ने में भी सक्रिय थे। फिर भी ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था और सरकारी रोजगार की उनकी व्यवस्था ने भारत में मानवीय समानता के नजरिए के नवीनीकरण को मजबूत बनाया। इस प्रकार की प्रक्रियाओं ने ही अंततः भारतीयों को ब्रिटिश लोगों की विशेष स्थिति व प्रतिष्ठा पर प्रश्न उठाने की ताकत भी दी। यों भारतीय स्वतंत्रता संग्राम प्रारंभ हुआ और आजाद भारत के संविधान ने सबको समानता और स्वतंत्रता की गारंटी दी।

चयन के आधार के रूप में योग्यता का जो इतिहास रहा है उससे हमें उसके आकर्षण को समझने के साथ, जिसे हम भारतीय सर्विस क्लास (सेवादाता वर्ग) कहते हैं उसकी संस्कृति में योग्यता की भूमिका को समझने में मदद मिलती है। योग्यता की धारणा सेवा वर्ग के उत्थान में केंद्रीय थी और उसे वैधता प्रदान करती थी। कठोर मेहनत और शैक्षिक सर्टिफिकेट पाने में जो जुटे थे उनकी दृष्टि में योग्यता का विचार रचा-बसा था क्योंकि यही तो उनके द्वारा अर्जित की गई सत्ता व धन पर सही होने का, न्यायपूर्ण होने

का ठप्पा लगाता था। फिर भी अन्य प्रचलित मान्यताओं की तरह योग्यता भी अपने काले रहस्यों को छुपा कर रखती है; वह व्यवस्था में अंतर्निहित असमानता को छिपाती है। आज हम दूर भूतकाल के उदाहरणों में इसे आसानी से देख पाते हैं; कुछ भारतीय जो भारतीय सिविल सेवा के सदस्य बन सके थे स्वयं को विशेषाधिकारों के लायक तथा प्रतिष्ठित मानते थे। पर तमाम दूसरे जो इन नौकरियों से इसलिए वंचित रहे क्योंकि वे परीक्षा देने इंग्लैण्ड नहीं जा सके, कुछ और ही सोचते थे।

योग्यता की वैधता कई अर्ध-सत्यों पर आधारित है। यह वैधता दरअसल कुछ लोगों को अवसरों से वंचित रखने पर आधारित थी, एक ऐसी व्यवस्था पर जो आग्रह यह करती थी कि केवल कुछ लोग ही प्रतिष्ठित हो सकते हैं, अधिक नहीं; एक ऐसी व्यवस्था पर आधारित थी जिसमें कुछ खास किस्मों का ज्ञान दूसरों से अधिक महत्त्वपूर्ण महज इसलिए बन जाता था क्योंकि समाज में सत्ता विभाजन ही एक खास तरह का था। यह तथ्य आश्चर्यजनक नहीं है कि भारतीय मध्यमवर्ग वैधता के इस अभाव को स्वीकार ही नहीं पाता। यह तो उस संस्कृति के ही विपरीत है जो उन्हें टिकाए रखती है, उन्हें प्रेरित करती है। बड़ी अफसरशाही व्यवस्थाओं में रोजगार पाना अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है - फिर चाहे वे सरकारी हों या नैगमिक - ऐसे पेशे लगातार नगण्य बनते जा रहे हैं जो कागजी प्रमाणपत्रों पर निर्भर नहीं करते। शिक्षा व्यवस्था ठीक इन्हीं वर्गों को (दूसरों को नहीं) ऊपर उठने-बढ़ने के सम्भावना का वादा करती है। यह वादा इस संदर्भ में खासतौर से महत्त्वपूर्ण बन जाता है क्योंकि पुराने तौर-तरीके व प्रतीकों का मूल्य लगातार घटता जा रहा है, खासकर मास-मीडिया तथा उसकी उपभोक्ता संस्कृतियों के हमले के तहत।

योग्यता पर सवाल उठाने का मतलब है नए मोबाइल फोनों, वातानुकूलित घरों, निजी अस्पतालों और टीवी विज्ञापनों द्वारा आनंद के वादों की दुनिया में भाग सकने की समूची व्यवस्था पर सवाल उठाना। योग्यता पर सवाल उठाने का मतलब है व्यक्तिवाद पर सवाल उठाना। नौकरी के बाजार में न्याय की मौजूदगी पर संदेह करना, उपभोक्तावाद की वैधता की हवा निकालना। आज मध्यवर्ग की संस्कृति में यह सब केंद्रीय है। पर साथ ही समानता तथा आजादी भी आकर्षक सिद्धान्तों के रूप में कायम हैं। हम सुविधाहीनों के साथ सहानुभूति जताते हैं, करोड़ों को अवसरों से वंचित रखने पर हमें गहरा अफसोस होता है। शायद ये सिद्धान्त हमें अधिक ईमानदार तथा साहसी बनने को भी प्रेरित कर सकते हैं।

भाई-भतीजावाद की स्थिति से योग्यता आधारित स्थिति बेहतर है, पर अब इसकी गम्भीर जांच-पड़ताल की दरकार है। हमारे सामने चुनौती यह है कि हम ऐसे समाज को कैसे रचें जहां योग्यता सच्चाई के साथ समान अवसर की बात करती हो। जहां वह व्यवस्थागत असमानताओं व अन्याय पर वैधता का ठप्पा लगाने का काम न करती हो।

यह चुनौती कड़ी होगी क्योंकि हमारी योग्यता के झूठ उन तमाम प्रक्रियाओं से भी जुड़े हैं जो हमें सह-योजित (कोऑप्ट) करते हैं। योग्यता पर सवाल उठाने का मतलब है उन तमाम पुरस्कारों पर भी सवाल उठाना जो उसके सहारे मिलते हैं - ऊंचे प्रत्यायकों का एक पुरस्कार है उपभोक्तावाद। अतः हमें उस पर सवाल उठाना होगा। ऐसे सवाल हमारे इस सीधे-सरल आनंद को भी कमजोर व डगमगा डालते हैं कि हम अपने पड़ोसियों से बेहतर हैं। एक समूची संस्कृति जो सफलता व श्रेष्ठता के मिथकों को परोक्ष रूप से स्वीकारने पर टिकी हो वही चरमराने लगती है। अतः यह काम विशाल है पर यह औद्योगिक समाज की कई समालोचनाओं में प्रारंभ हो चुका है।

योग्यता पर पुनर्विचार

'योग्यता' की जो अवधारणा आज जिस अवस्था में है वह कम से कम सामन्तवाद और जाति-व्यवस्था के गैर-लचीले घेरों से बेहतर स्थिति है। पर अगर कोई उस वृत्त को पूरा करना चाहे जो समता व आजादी के तर्क से खींचा जा रहा हो तो वह वांछित लक्ष्य से काफी दूर रहेगा। हमें योग्यता की धारणा की परिरेखाओं पर पुनःविचार कर उन्हें ऐसा बनाना होगा कि वे मानवीय सम्भावनाओं की दृष्टि को अधिक सटीक रूप से अभिव्यक्त कर सके। उसे ऐसी धारणा का रूप देना होगा जो उस समाज को प्रोत्साहन और सहयोग दे सके जहां श्रेष्ठता के लिए संघर्ष के साथ-साथ समान अवसर, संसाधन तथा सम्मान के माध्यम से श्रेष्ठता को सार्वजनीन बनाने का संघर्ष भी चल रहा हो। वैसे भी श्रेष्ठता पाने के प्रयास समानता के बिना व्यापक नहीं हो सकते। ऐसे में एक शिक्षक व विद्वान के रूप में इसका मेरे व्यवहार के लिए क्या अर्थ हो सकता है ? एक नियोक्ता या कार्मिक के रूप में क्या मायना हो सकता है ?

संस्कृतियों व सामाजिक ढांचों पर पुनर्विचार सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष में वास्तविक जुड़ाव का हिस्सा होना चाहिए। अंततः उसकी जो परिरेखाएं बनती हैं वे हमें इसी व्यापक संघर्ष द्वारा ही नजर आएंगी। हमें ऐसी तकनीकें और रणनीतियां गढ़नी होंगी जो परिस्थिति विशेष तथा संदर्भ विशेष के लिए उपयुक्त हों। फिर भी शुरुआत में एक शिक्षक के लिए इसका मतलब होगा कि वह यह स्वीकारे कि उसकी कक्षा के सभी छात्रों में समान रूप से उच्च सम्भावनाएं हैं। हो सकता है कि अब तक उनका जो प्रदर्शन रहा है वह उनके विगत अनुभवों से बाधित हुआ हो या गढ़ा गया हो। पर एक प्रोत्साहक व सक्रिय शिक्षण प्रयास के तहत, जिसमें फीडबैक पाने की और प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत ध्यान देने की

कोशिश हो, यह अनुमान तक नहीं लगाया जा सकता कि कौन-सा छात्र, कौनसी छात्रा किस ऊंचाई तक उड़ान भरेगा। यह कोशिश शिक्षक पर कोई अतिरिक्त बोझ नहीं डालती पर यह जीवन को अधिक सार्थक व उत्पादक जरूर बनाती है। और यह वास्तविकता के अधिक निकट भी होगी, बजाए इस धारणा के कि "मैं सर्वश्रेष्ठ छात्रों के लिए पढ़ाता हूं, बाकि भाड़ में जाएं।" ये सर्वश्रेष्ठ 40 की कक्षा में चार-पांच से कहीं अधिक हो सकते हैं।

पर आज के स्कूलों, कॉलेजों व विश्वविद्यालयों में यह कर पाना काफी कठिन है। यही कारण है कि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था खुद ही योग्यता को पनपाने में सबसे बड़ी बाधा है। अर्थात् योग्यता की धारणा के समर्थन के साथ-साथ हमें शिक्षा की प्रकृति और उसके व्यवहार पर पुनर्विचार करना होगा। इसका मतलब होगा कि शिक्षक की भूमिका ज्ञान को मशीनी रूप से संप्रेषित करने वाले व्यक्ति से बदलकर विद्यार्थियों को सोचना और महसूस करना सिखाने वाले व्यक्ति में तब्दील करना होगा। इसका अर्थ होगा सीखने की क्रिया को डरे हुए विद्यार्थियों की भयभीत प्रतिक्रिया से बदल कर प्रसन्न अभिपुष्टि का कृत्य बना डालना होगा। योग्यता की धारणा को समर्थन देने का मतलब यह भी होगा कि हम अपनी मूल्यांकन व्यवस्था पर फिर से सोचें और उसे एक सतत फीड बैक की व्यवस्था बना डालें जो मस्तिष्क को मूर्त बनाने के बदले उन्हें प्रेरित कर सके।

योग्यता पर पुनर्विचार करते समय हमें यह सवाल उठाना होगा कि ऐसे कौनसे गुण हैं जिनकी आवश्यकता हमें एक अच्छा समाज बनाने के लिए पड़ती है। और ये वे गुण होंगे जिन्हें सीखने का सार्थक वातावरण पनपाता है, बजाए उन अल्पकालिक अवसरों के जिन्हें हम स्पर्धा के नाम पर फिलहाल प्रोत्साहित करते हैं। चयन की प्रक्रियाओं में हमें यह स्वीकारना होगा कि हम उस वक्त जितने लोगों को खपा सकते हैं उनसे कहीं अधिक उपयुक्त आवेदक मौजूद हैं। हमें चयन की इस प्रक्रिया में निहित अन्याय को मानना होगा। यह स्वीकृति व्यवस्था में निहित अन्याय को ढांपने या वैधता देने के बदले उस पर सुधार का दबाव डालने, सुधार को प्रोत्साहन देने का काम करेगी।

स्वाभाविक है कि यह सब समसामयिक उद्योगों और जिन प्रतिष्ठा व्यवस्थाओं पर वे टिके हैं, के विपरीत है। प्रत्यायक आज के श्रमबल को जायज बनाता है और उसके नैतिक ढांचे को पोसता है, विभिन्न श्रेणियों के बीच अंतरों को व्यक्तिगत पराक्रम का दर्जा देना श्रम को नियंत्रित करने, उसके प्रबंधन में केंद्रीय है। संगठन के पदक्रम में ऊपर चढ़ने वालों को लगातार अधिक से अधिक वेतन दिया जाता है, इसका औचित्य व्यक्ति की अनुमानित योग्यता को तथा ऊपर तथा बीच के कर्मियों में जिस फासले का दावा किया जाता है, उसको माना जाता है। योग्यता की समाजशास्त्रीय समझ आधुनिक संगठनों के नैतिक ढांचे की फूंक निकाल सकती है। क्योंकि संगठन जिस प्रकार बना है उसमें अन्याय निहित होता है। यह स्वीकारना बदलाव का रास्ता ही तो है। जो लोग सत्तावान पदों पर आसीन हैं, उन्हें इससे भय लगता है फिर चाहे वह पद अफसरशाही के निचले स्तर पर स्वाल्प सत्ता ही उन्हें क्यों न देता हो।

इस स्थिति में खास नई बात भी नहीं है। स्वयं योग्यता की ही धारणा ने सामन्तवाद के नैतिक ढांचे की हवा निकाल उसे खण्डित कर दिया था। शुद्ध खून और राजशाही के दावे खोखले और निरर्थक सिद्ध हुए थे। पूंजीवादी उद्योगों ने जब अंततः सामन्तवाद को पछाड़ा तो योग्यता की धारणा इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा था।

अतः योग्यता पर पुनर्विचार तथा योग्यता को पनपाने का अर्थ होगा कि हम अन्यायपूर्ण असमानता पर तथा श्रम की निर्नैतिक तकनीकी तार्किकता पर आधारित उद्योग की आवश्यकताओं से दूर हटें। हमें हमारा उत्तर काम के बाद के खाली समय में मस्तिष्क को पंगु बनाने वाले विश्राम में नहीं मिलेगा। संभवतः यह उत्तर उस प्रक्रिया में मिले जो समसामयिक समाजों की तार्किकता का क्रमशः विरोध कर रही हैं। सम्भव है कि इतिहास में उतनी अपरिहार्यता न हो। पर यह सच में सम्भव है कि हम दरअसल एक ऐसा समाज बना सकें जहां श्रेष्ठता, आजादी और समानता आज की तुलना में अधिक प्रोत्साहन पाएं। विरोध के जो तमाम स्वर आज उठ रहे हैं और जितने नवाचारी मॉडलों के साथ प्रयोग किए जा रहे हैं, वे आशा जगाते हैं। ◆

टिप्पणियां

यह आलेख कल्याणी डाइक मदान ने सम्भव बनाया। इसकी शुरुआत 'स्रोत : साइन्स एण्ड टेक्नॉलोजी फीचर्स' के लिए लोकप्रिय लेखों की श्रृंखला से हुई, जिसे बाद में उदयपुर स्थित विद्या भवन ग्रामीण संस्थान, जे.एन.यू. के सेंटर फॉर स्ट्डी ऑव सोश्यल सिस्टमस् तथा आईआईटी कानपुर के डिपार्टमेंट ऑव ह्यूमैनिटीज एण्ड सोश्यल साइन्सेज में प्रस्तुति के लिए एक व्यापक पर्चे का रूप दिया गया। मैं उन तमाम टिप्पणियों तथा टीकाओं के लिए आभारी हूं, जो मुझे दी गईं।

1. आर. गोविन्दा (2002) भारत में शिक्षा की स्थिति की एक मूल्यवान विहंगम दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।
2. शिक्षा विभाग, वार्षिक प्रतिवेदन, पृ. 262. http://www.education.nic.in/annualreport 2004-05/annexures.pdfd/1march 2, 2007
3. 'एज्यूकेशन अटेन्मेंट इन द युनाइटेड स्टेट्स : 2003 : पॉप्यूलेशन कैरेक्टरिस्टिक्स, http://www.census.gov/prod/2004pubs/p20-550.pdf d/1 march 15, 2007

4. डोरे की मूल पुस्तक पाना अब दुर्लभ है। परन्तु एसेस्मेन्ट इन एज्यूकेशन : प्रिंसिपल्स, पॉलिसी एण्ड प्रैक्टिस नामक जर्नल ने इस पुस्तक पर पुनर्विचार कर एक समूचा अंक 1997 में छापा था। इसमें स्वयं डोरे के आलेख भी शामिल थे। मैं लीन अब्राहम का शुक्रगुजार हूं कि उन्होंने इस ओर मेरा ध्यान खींचा।

संदर्भ पुस्तकें

बोरदिउ पिएरे (1979) : द इन्हेरिटर्स : फ्रेंच स्टूडेंटस एण्ड देयर रिलेशन टू कल्चर, यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, शिकागो।

(2003, मूल 1979) : डिस्टिंक्शन : ए सोश्यल क्रिटीक ऑव द जजमेंट ऑव टेस्ट, रूटलेज; न्यू यॉर्क तथा लन्दन

बोरदिउ पिएरे तथा ज्यां-क्लॉड पासेरॉन (2000, मूल 1977) : रीप्रोडेक्शन इन एज्युकेशन, सोसाइटी एण्ड कल्चर, द्वितीय संस्करण, सेज, लन्दन

बाउल्स, एस तथा एच गिन्टिस (1976) : स्कूलिंग इन कैपिटलिस्ट अमेरिका, रूटलेज एण्ड कीगन पॉल, लन्दन

ब्रीन, रिचर्ड एण्ड जॅन ओ. जॉन्सन (2005) : 'इनइक्वॅालिटी ऑव ऑपरच्यूनिटी इन कमपैरिटिव परस्पैक्टिवः रीसेन्ट रिसर्च ऑन एज्युकेशनल अटेनमेंट एण्ड सोश्यल मोबिलिटी, एन्युअल रिव्यु ऑव सोश्यलॉजी, खण्ड-3, पृ. 223-43

कॉलिन्स रेन्डल (1971) : 'फंक्शनल एण्ड कॉन्फलिक्ट थ्योरीज ऑव एज्युकेशनल स्ट्रैटीफिकेशन', अमेरिकन सोश्योलॉजिकल रिव्यू, खण्ड 6, क्र.सं. 36, पृ. 1002-19

(1979) : द क्रिडेन्शियल सोसाइटी : एन हिस्टॉरिकल सोश्यॉलजी ऑव एज्युकेशन एण्ड स्ट्रैटीफिकेशन, एकेडमिक प्रेस, न्यू यॉर्क

डोरे रोनाल्ड (1976) : द डिप्लोमा डिजीज, युनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले

(1997) : 'द आर्गयूमेंट ऑव द डिप्लोमा डिजीज : ए समरी' असेस्मेंट इन एज्युकेशन : प्रिंसिपल, पॉलिसी एण्ड प्रैक्टिस, खण्ड 4, संख्या-1, पृ. 22-23

एगरटन म्यूरिकल तथा ए.एच.हैल्सी (1993) : 'ट्रैन्डस बाई सोश्यल क्लास एण्ड जेण्डर इन एक्सेस टू हायर एज्युकेशन इन ब्रिटेन, ऑक्सफर्ड रिव्यु ऑव एज्युकेशन, जून 1993, खण्ड 19, संख्या 1, पृ. 183-97

फ्लाउड, जे.ई., ए.च हैल्सी तथा एफ.एम.मार्टिन (1956) : सोश्यल क्लास एण्ड एज्युकेशनल ऑपर्च्यूनिटी, हाइनेमान, लन्दन

गोविन्दा, आर. (2002) : इण्डिया एज्युकेशन रिपार्ट : ए प्रोफाइल ऑव बेसिक एज्युकेशन, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली

हैबरमास, जुरगन (1984, मूल 1981) : द थ्योरी ऑव कम्युनिकेटिव एक्शन : खण्ड 1 : रीजन एण्ड द रैश्नलाइजेशन ऑव सोसाइटी, हाइनेमान, अनुवाद थॉमस मैकार्थी, लन्दन

हैल्सी ए.एच., ए.एफ हीथ तथा जे.एम रिज (1980) : ऑरिजन्स एण्ड डेस्टिनेशन्स : फैमिली, क्लास एण्ड डेस्टिनेशन इन मॉडन ब्रिटेन, ऑक्सफर्स युनिवर्सिटी प्रेस, क्लैरेन्डन

हारग्रीजस, डेविड एच., स्टीफन के हैस्टर तथा फ्रैंक जे. मेलर (1975) : डीविअन्स इन क्लासरूमस्, रुटलेज एण्ड केगन पॉल, लन्दन

हॉपर, अर्ल (1968) : ए टाइपॉलजी फॉर क्लासीफिकेशन ऑव एज्युकेशनल सिस्टम्स्, सोश्यॉलजी, खण्ड 2, संख्या 1, पृ. 29-46

(1973) एज्युकेशनल सिस्टम्स एण्ड सिलेक्टेड कॉन्सिक्वेन्सेस ऑव पैटर्नस ऑव मोबिलिटी एण्ड नॉन - मॉबिलिटी इन इन्डस्ट्रियल सोसाइटीज : अ थ्योरेटिकल डिस्कशन, हॉपर ई. द्वारा संपादित, रीडिंग्स् इन द थ्योरी ऑव एज्युकेशनल सिस्टम्स्, हचिनसन, लन्दन

नाम्बीसान (2001) सोश्यल डाइवर्सिटी एण्ड रीजनल डिस्पैरिटी इन स्कूलिंग : एस्टडी ऑव रूरल राजस्थान, ए. वैद्यनाथन तथा पी.आर. गोपीनाथन नायर (संपादित) एलिमैन्ट्री एज्युकेशन इन रूरल इण्डिया : अ ग्रासरूटस् व्यू, सेज, नई दिल्ली, पृ. 459-517

पार्सनस्, टैल्कॉट (1959) : 'द स्कूल क्लास एज अ सोश्यल सिस्टम : सम् ऑव इटस् फक्शन्स इन अमेरिकन सोसायटी, हारवर्ड एज्युकेशनल रिव्यू, खण्ड 29, संख्या 4, पृ. 297-318

रामचन्द्रन विमला तथा आरती सैहजी (2002) : 'द न्यू सेग्रिगेशवः रिफेक्लेशन ऑन जेण्डर एण्ड इक्विटी इन प्राइमरी एज्युकेशन', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, अप्रैल 27, पृ. 1600-14

सोवेल, थॉमस (1981) : एथनिक अमेरिका : अ हिस्ट्री, बेसिक बुक्स, न्यू यॉर्क

वर्मन, राहुल (2006) : http://canucrapmore.blogspot.com/2006/05/why-are-we-opposed-to-reservation-by.html, d/1 March 2, 2007.

विलिस, पॉल (1977) : लर्निंग इ लेबर : हार्ड वर्किंग क्लास किडस् गेट वर्किंग क्लास जॉब्स्, सैक्सन, वेस्टमीड

(इकॉनोमिक एण्ड पॉलिटीकल वीकली,
जुलाई 21, 2007 से साभार)

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा